साधना-पथ

प्रकाशक
मण्डेलिया परमार्थ कोष, ग्वालियर (म० प्र०)

मूल्य दो रुपये

मुख्य विक्रेता
सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

मुद्रक
हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस, औद्योगिक क्षेत्र,
नारायणा भाग-२, नई दिल्ली-२८

श्रद्धा-पुष्प
स्वामी श्रीसत्यानन्दजी महाराज
की
पावन स्मृति में
अर्पित

प्रसाद

विनीत

प्रकाशकीय

हर्ष होता है कि 'साधना-पथ' का नित्य पठन तथा मनन करके पाठकों ने अच्छा लाभ उठाया है। पुस्तक का यह चौथा संस्करण है। अधिक-से-अधिक हाथों में साधना-पथ पहुँचे इस विचार से वितरण एवं विक्रय का अधिकार सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली को हम दे रहे हैं।

हेतु

भगवद्‌गीता एवं रामचरितमानस में मानव-दर्शन तथा जीवन-कला का व्यावहारिक निरूपण किया गया है। उसमें हमारे जीवन की सच्ची सार्थकता और सरसता निहित है। वह दर्शन और वह कला हमारे प्रतिदिन के जीवन में चरितार्थ हो इस उद्‌देश से इन दिव्य ग्रन्थों का नित्यप्रति पाठ करना आवश्यक लगता है। किन्तु साधारणतया हमारे आज के व्यस्त जीवन में इसके लिए पर्याप्त समय निकालना कठिन हो गया है।

जिस प्रकार विज्ञान का विद्यार्थी मूलभूत सिद्धान्तों का सूत्ररूप में स्मरण करता रहता है, उसी प्रकार मानव-दर्शन और जीवन-कला के सूत्रों का नित्यप्रति पाठ और मनन होता रहे, तो साधक स्वभावतः संसार के तरह-तरह के वातावरण में विचरते हुए भी अपने आचार-विचार व लोक-व्यवहार में उनका अनुसरण करता रहेगा।

इसलिए यह आवश्यकता मालूम देती है कि गीता के कुछ चुने हुए श्लोकों तथा रामचरितमानस के कुछ ऐसे दोहों व चौपाइयों और साधु-सन्तों के पदों का एक ऐसा संकलन हो, जिनमें मानव-दर्शन के मूलभूत तत्व तथा जीवन-कला की पूरी रूप-रेखा का समावेश हो। ऐसे संकलन का नित्यप्रति पाठ करते रहने से सूत्रों के रूप में सतत स्मरण होता रहेगा, जिसमें प्रातः से सायं और सायं से प्रातः तक साधना-पथ पर हमारी प्रगति होती रहेगी।

इस हेतु को लेकर **साधना-पथ** नामक यह संग्रह मेरे मित्र न्यायमूर्ति श्रीशिवदयालजी श्रीवास्तव ने किया है। इस सुन्दर

संग्रह ने मुझे इतनी अधिक प्रेरणा दी है कि मैंने इसे सर्वजन-हिताय प्रकाशित कराना उचित समझा।

यह संग्रह मेरे पास बहुत दिनों से रखा हुआ था। इसके संबंध में यहाँ २१ दिसम्बर, १९७० को घटित एक घटना उल्लेखनीय है। उस दिन नागदा (म० प्र०) के जिस मकान में मैं ठहरा हुआ था, उसमें एक असामाजिक जन-समूह द्वारा आग लगा दी गई। मकान के उस कमरे की सारी चीजें जलकर नष्ट हो गईं। उनमें यह संग्रह भी था। किन्तु चार-पांच दिन बाद देखा तो यह उसी स्थान पर बिल्कुल सुरक्षित पाया गया। क्या यह एक दैवी चमत्कार नहीं था? भगवत्-कृपा का इसमें स्पष्ट हाथ था ऐसा मैं मानता हूँ। इस घटना से इस पुस्तिका का महत्व और भी बढ़ जाता है।

नित्य पाठोपयोगी सूक्तियों का यह सुन्दर संकलन करने के लिए मैं मित्रवर श्रीशिवदयालजी का अत्यन्त आभारी हूँ।

विनीत

श्रीरामनवमी, १९७१

दुर्गाप्रसाद मंडेलिया

मंगलं भगवान् विष्णुः
मंगलं गरुडध्वजः ।
मंगलं पुण्डरीकाक्षः
मंगलायमनो हरिः ॥

प्रार्थना

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः ॥

हे हृषीकेश ! यह उचित ही है कि तुम्हारे गुण-कीर्तन से सारा जगत् प्रसन्न होता है और अनुराग करता है ।

भयभीत राक्षस दसों दिशाओं से भाग जाते हैं, और सिद्ध पुरुषों के समूह तुम्हींको नमस्कार करते हैं ।—११-३६

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥

हे महात्मन् ! तुम ब्रह्मा के भी आदिकारण और उससे भी श्रेष्ठ हो । तुम्हारी वन्दना वे कैसे न करेंगे ?

हे अनन्त ! हे देवेश ! हे जगन्निवास ! सत् और असत् तुम्हीं हो, और इन दोनों से परे जो अक्षर (ब्रह्म) है वह भी तुम्हीं हो । —११-३७

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥

तुम आदिदेव हो, पुरातन पुरुष हो। इस विश्व के परम आधार हो।

तुम सबको जाननेवाले हो, और जाननेयोग्य भी तुम्हीं हो, तथा तुम श्रेष्ठ स्थान हो।

हे अनन्त-रूप! तुम्हीं ने इस विश्व को विस्तृत अथवा व्याप्त किया है। —११-३८

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥

वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्र, प्रजापति अर्थात् ब्रह्मा और प्रपितामह भी तुम्हीं हो।

तुम्हें सहस्रों बार नमस्कार है, और फिर भी तुमको नमस्कार है। —११-३९

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे॥

तुम्हीं परम जाननेयोग्य अक्षर (ब्रह्म) हो; इस विश्व के अन्तिम आधार हो;

तुम्हीं अविनाशी और सदा रहनेवाले धर्म के रक्षक हो; मुझे सनातन पुरुष तुम्हीं जान पड़ते हो। —११-१८

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।

पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ।।

तुम्हीं स्तुति करने योग्य हो और समर्थ हो। इसलिए मैं झुककर नमस्कारपूर्वक प्रार्थना करता हूँ कि प्रसन्न हो जाओ।

हे देव! जिस प्रकार पिता पुत्र के अथवा मित्र मित्र के अपराध क्षमा करता है, उसी प्रकार तुम्हें अपने प्रिय, मुझ प्रेमपात्र के अपराध क्षमा करने चाहिए। —११-४४

कार्पण्य दोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ।।

दीनता से मेरी स्वाभाविक वृत्ति नष्ट हो गई है। मुझे अपने धर्म अर्थात् कर्त्तव्य का मन में मोह हो गया है। इसलिए मैं तुमसे पूछता हूँ। जो निश्चय से श्रेयस्कर हो, वह मुझे बतलाओ। मैं तुम्हारा शिष्य हूँ। मुझ शरणागत को समझाओ। —२-७

—भगवद्गीता

अविनयमपनय विष्णो, दमय मनः शमय विषयमृगतृष्णाम्।
भूतदयां विस्तारय, तारय संसारसागरतः ।।

हे विष्णुदेव! मेरे अविनय को दूर कीजिए। मेरे मन को दबाइए और विषयों की मृगतृष्णा शान्त कीजिए।

प्राणियों के प्रति मेरे हृदय में दया का विस्तार कीजिए और मुझे संसार-सागर से उबारिए।

—आदिशंकराचार्य

करचरणकृतं वाक्कायजं कर्मजं वा
श्रवणनयनजं वा मानसं वाऽपराधम् ।
विहितमविहितं वा सर्वमेतत् क्षमस्व
जय जय करुणाब्धे श्रीमहादेव शम्भो !

हाथ से अथवा पैर से, वाणी से या शरीर से, कान से अथवा आँख से मैं जो कुछ भी अपराध करूँ, वह कर्म से हुआ हो, या केवल मानसिक हो—वह अमुक कार्य करने से हुआ हो, अथवा अमुक कर्म न करने से हुआ हो, हे करुणासागर ! हे कल्याणकारी महादेव ! उन सब अपराधों के लिए मुझे क्षमा करो ।

(साथ में वन जाने हेतु लक्ष्मण श्रीराम से कहते हैं—)

मैं सिसु प्रभु सनेहँ प्रतिपाला ।
मंदरु मेरु कि लेहिं मराला ।।
मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी ।
दीनबंधु उर-अंतरजामी ।।

मंदरु···मराला=कहीं हंस भी मंदराचल या सुमेरु पर्वत को उठा सकता है ? मोरें=मेरे तो । सबइ=सब-कुछ, सर्वस्व ।

(विदा लेते समय अंगद की श्रीराम से विनती—)

जदपि नाथ बहु अवगुन मोरें ।
सेवक प्रभुहि परै जनि भोरें ।।
सेवक सुत पति मातु भरोसें ।
रहइ असोच बनइ प्रभु पोसें ।।
असरन सरन बिरदु संभारी ।
मोहि जनि तजहु भगत-हितकारी ।।

मोरें तुम्ह प्रभु गुरु पितु माता ।
जाउँ कहाँ तजि पद-जलजाता ॥
बालक ग्यान बुद्धि बल हीना ।
राखहु सरन नाथ जन दीना ॥

बिरदु = बाना । संभारी = याद करके । पद-जलजाता = चरण-कमल । जन दीना = दीन सेवक ।

बार बार माँगउँ कर जोरें ।
मनु परिहरै चरन जनि भोरें ॥

जनि भोरें = भूल से भी नहीं ।

(शरणागत विभीषण श्रीराम से कहते हैं—)

स्रवन सुजसु सुनि आयउँ, प्रभु भंजन भव भीर ।
त्राहि त्राहि आरति-हरन, सरन सुखद रघुबीर ॥

भंजन = नाश करने वाले । त्राहि = रक्षा कीजिए । आरति = दुःख

—रामचरितमानस

श्रीरामचन्द्र कृपालु भजु मन, हरण भव-भय दारुणं ।
नवकंजलोचन, कंजमुख, कर कंज, पद कंजारुणं ॥
कन्दर्प अगणित अमित छवि, नव नील नीरद सुन्दरं ।
पट पीत मानहुँ तड़ित रुचि, सुचि नौमि जनकसुतावरं ॥
भजु दीनबन्धु दिनेश दानव-दैत्य-वंश-निकंदनं ।
रघुनन्द आनँद-कंद कोसलचंद दशरथ-नन्दनं ॥
सिर मुकुट कुण्डल तिलक, चारु, उदार अंग-विभूषणं ।
आजानु भुज शर-चाप-धर, संग्राम-जित खरदूषणं ॥

इति वदति तुलसीदास, शंकर-शेष-मुनि-मन-रंजनं ।
मम हृदय-कंज निवास कुरु, कामादि-खल-दल-गंजनं ॥

हे मन ! परमकृपालु श्रीरामचन्द्रजी का भजन कर। वे संसार-जनित दारुण भय दूर करनेवाले अर्थात् जन्म-मरण के चक्र से छुड़ा देनेवाले हैं। नेत्र उनके कमल के समान हैं; मुख, हाथ और चरण भी लाल कमल के सदृश हैं।

सौन्दर्य उनका अगणित कामदेवों से भी वढ़कर है। शरीर नवीन नील मेघ जैसा सुन्दर है; पीताम्वर (शरीररूपी मेघ के बीच में) विजली की सुन्दर चमक के समान सुशोभित हो रहा है। ऐसे परम-पावन जानकी-रमण रघुनाथजी को मैं प्रणाम करता हूँ।

हे मन ! दीनों के मित्र, सूर्य के समान तेजस्वी, दानवों और दैत्यों का कुल समूल नष्ट करनेवाले, आनंदकंद, कोशलदेशरूपी नभोमण्डल में चन्द्र के समान देदीप्यमान, दशरथनन्दन रघुनाथजी का तू भजन कर।

जिनके मस्तक पर मुकुट, कानों में कुंडल, माथे पर सुन्दर तिलक और अंग-प्रत्यंग में भव्य आभूषण सुशोभित हो रहे हैं, जिनकी भुजाएँ घुटनों तक लम्बी हैं, जिन्होंने धनुष-त्राण धारण कर रखे हैं, और रणभूमि में खर तथा दूषण नामक राक्षसों को जीत लिया है।

जो शिव, शेष और मुनियों के मन को प्रसन्न करनेवाले तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि प्रवल शत्रुओं के विनाशक हैं, ऐसे श्रीरघुनाथजी, तुलसीदास प्रार्थना करता है, मेरे हृदय-कमल में सदा निवास करें।

वैष्णव जन तो तेने कहीए, जे पीड पराई जाणे रे;
परदुःखे उपकार करे तोये मन अभिमान न आणे रे,
सकल लोकमां सहुने वंदे, निंदा न करे केनी रे;
वाच काछ मन निश्चल राखे, धन धन जननी तेनी रे.
समदृष्टी ने तृष्णा त्यागी, परस्त्री जेने मात रे;
जिह्वा थकी असत्य न बोले, परधन नव झाले हाथ रे.
मोह माया व्यापे नहि जेने, दृढ़ वैराग्य जेना मनमां रे;
रामरामशुं ताळी लागी, सकल तीरथ तेना तनमां रे.
वणलोभी ने कपटरहित छे, काम क्रोध निवार्या रे,
भणे नरसैंयो तेनुं दरसन करतां कुल एकोतेर तार्या रे;

तोये=तो भी । न आणे=नहीं लाता है । सहुने=सबको । काछ=काया से । नव झाले=नहीं डालता, लालच नहीं करता । ताळी=ध्यान । वणलोभी=निर्लोभ । निवार्या=दूर कर दिया है ।

—नरसी मेहता

अभय-दान

रविवार

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

हे अर्जुन ! ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में रहकर अपनी माया से, अपनी शक्ति से, उनको इस प्रकार घुमा रहा है, मानो वे सभी किसी यंत्र पर चढ़ा दिये गये हैं ।

—१८-६१

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥

इसलिए हे भारत ! तू सर्वभाव से उसी की शरण में जा। उसकी कृपा से तुझे परम शान्ति और नित्यस्थान प्राप्त होगा । —१८-६२

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

हे कुन्ती पुत्र ! तू जो कुछ करता है, जो कुछ खाता है, जो होम-हवन करता है, जो दान करता है, और जो तप करता है, वह सब मुझे अर्पण कर दे । —९-२७

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥

हे पाण्डव ! जो मनुष्य इस बुद्धि से कर्म करता है कि

सारे कर्म मेरे अर्थात् परमेश्वर के हैं, जो मुझमें परायण है और आसक्तिरहित है; और जो सब प्राणियों के प्रति निर्वैर है अर्थात् सबका मित्र है, वह मेरा भक्त मुझमें मिल जाता है।

—११-५५

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

तू मुझमें अपना मन रख, मेरा भक्त बन, मेरा भजन कर और मेरी वन्दना कर: मैं तुझसे यह सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि इससे तू मुझमें ही आ मिलेगा, क्योंकि तू मुझे प्रिय है।

—१८-६५

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

सब धर्मों को छोड़कर तू केवल मेरी ही शरण में आ जा। मैं तुझे सब पापों से छुटकारा दे दूँगा, डर मत।

—१८-६६

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

जो अनन्य निष्ठा से मेरा चिन्तन कर मुझे भजते हैं, उन नित्ययोगयुक्त अर्थात् सदा मुझमें रहनेवालों का योग-क्षेम मैं किया करता हूँ।

जो वस्तु मिली नहीं है, उसको जुटाने का नाम है 'योग', और मिली हुई वस्तु की रक्षा करना है 'क्षेम'।

—९-२२

—भगवद्गीता

प्रथम कर्त्तव्य

जड़ चेतन गुन दोषमय बिस्व कीन्ह कर्तार।
सन्त हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार॥

प्रात पुनीत काल प्रभु जागे।
अरुनचूड़ बर बोलन लागे॥
प्रातकाल उठिकै रघुनाथा।
मातु पिता गुरु नावहिं माथा॥

अरुनचूड़=मुर्गा।

मातु पिता गुरु प्रभु कै बानी।
बिनहिं बिचार करिअ सुभ जानी॥

बानी=आज्ञा।

सुनु जननी सोइ सुत बड़भागी।
जो पितु मातु बचन अनुरागी॥
तनय मातु पितु तोषनिहारा।
दुर्लभ जननि सकल संसारा॥

तनय=पुत्र। तोषनिहारा=प्रसन्न करनेवाला।

करइ जो करम पाव फल सोई।
निगम नीति असि कह सबु कोई॥
कादर मन कहुँ एक अधारा।
दैव दैव आलसी पुकारा॥

कादर=कातर, आर्त्त, विवश।

प्रबिसि नगर कीजे सब काजा।
हृदय राखि कोसलपुर-राजा॥

सो अनन्य जाकें असि, मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर, रूप स्वामि भगवंत॥

हे हनुमान्! अनन्य भक्त वही है, जिसकी ऐसी बुद्धि कभी विचलित नहीं होती कि मैं सेवक हूँ और यह जड़ व चेतन जगत् मेरे स्वामी भगवान् का रूप है। —रामचरितमानस

कौन जतन बिनती करिये।
निज आचरन बिचारि हारि हिय, मानि जानि डरिये॥
जेहि साधन हरि द्रवहु जानि जन, सो हठि परिहरिये।
जातें बिपति-जाल निसिदिन दुख, तेहि पथ अनुसरिये॥
जानत हूँ मन बचन करम, परहित कीन्हे तरिये।
सो बिपरीत, देखि परसुख बिनु कारन ही जरिये॥
स्रुति पुरान सबको मत यह सतसंग सुदृढ़ धरिये।
निज अभिमान मोह ईर्ष्या-बस, तिनहि न आदरिये॥
संतत सोइ प्रिय मोहि सदा, जाते भवनिधि परिये।
कहो अब नाथ! कौन बलतें, संसार-सोक हरिये॥
जब-कब निज करुना-सुभावतें द्रवहु तो निस्तरिये।
'तुलसिदास' बिस्वास आन नहिं, कत पचि-पचि मरिये॥

हे नाथ! मैं किस प्रकार विनती करूँ? जब अपने (नीच) आचरणों की ओर देखता हूँ, उन पर विचार करता हूँ, तब साहस छोड़कर हृदय में हार मानकर डर जाता हूँ। मैं तो आपके सामने आने ही योग्य नहीं, ऐसा घोर पापी हूँ।

हे हरे! जिस साधन से आप इस जन को दास जानकर इस पर

कृपा करते हैं, अपना लेते हैं, उसे मैं हठपूर्वक छोड़ रहा हूँ। जहाँ दिन-रात विपत्ति के जाल में फँसकर दुःख ही मिलता है; उसी रास्ते पर चला करता हूँ।

यह जानते हुए भी, कि मन, वचन और कर्म से दूसरों की भलाई करने से संसार-सागर पार कर जाऊँगा, मैं उलटा ही आचरण करता हूँ, दूसरों के सुख को देखकर बिना ही कारण जला जा रहा हूँ।

वेदों और पुराणों सभी का यह सिद्धान्त है कि संतों का संग खूब दृढ़तापूर्वक करना चाहिए, सत्संग किसी भी प्रकार नहीं छोड़ना चाहिए, पर मैं अपने अहंकार, अज्ञान और ईर्ष्या के वश होकर सत्संग का आदर कभी नहीं करता, सन्तों के साथ सदा द्रोह ही करता हूँ।

मुझे सदा वही अच्छा लगता है, जिससे संसार-समुद्र में ही पड़ा रहूँ। फिर हे नाथ! आप ही कहिए मैं किस बल-बूते पर संसार के दुःख दूर करूँ?

यदि कभी आप अपने कारुणिक स्वभाव से मुझपर पिघल जायें, तभी मेरा निस्तार होगा, अन्यथा नहीं; क्योंकि तुलसीदास को किसी और का विश्वास नहीं, तब वह किसलिए (दूसरे साधनों में) पच-पचकर मरे।

अवगुन मेरे बापजी, बगस गरीबनिवाज।
जो मैं पूत कपूत हौं, तऊ पिता को लाज॥
बृच्छ कबहुँ नहिं फल भखैं, नदी न संचै नीर।
परमारथ के कारने, साधुन धरा सरीर॥

बगस=बख्स दो, माफ़ कर दो। तऊ=तो भी। संचै=जोड़ती है।

उन्नति का मार्ग

सोमवार

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥

मनुष्य अपना उद्धार स्वयं ही करे। अपने आपको कभी भी गिरने न दे। क्योंकि प्रत्येक मनुष्य स्वयं अपना बन्धु अर्थात् सहायक है, या स्वयं अपना शत्रु है। —६-५

जिसने अपने आपको जीत लिया, वह स्वयं अपना बन्धु है; परन्तु जो अपने आपको नहीं पहचानता, वह स्वयं अपने साथ शत्रु के समान वैर करता है। —६-६

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥

तेरा अधिकार केवल कर्म करने का है। फल का मिलना या न मिलना कभी भी तेरे अधिकार में नहीं। इसलिए मेरे कर्म का अमुक फल मिले, यह हेतु मन में रखकर तू कर्म करनेवाला न हो, और कर्म न करने का भी तू आग्रह न कर। —२-४७

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥

हे धनंजय! आसक्ति छोड़कर और कर्म की सफलता

हो या असफलता दोनों को समान ही मानकर योगस्थ होकर तू कार्य कर। समता की मनोवृत्ति को ही योग कहते हैं।

—२-४८

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥

जिसका आहार-विहार नियमित है, कर्मों का आचरण नपा-तुला है, और सोना-जागना परिमित है, उसको यह योग दुःखघातक अर्थात् सुखदायक होता है। —६-१७

आयुः सत्वबलारोग्य-
सुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या
आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥

आयु, सात्विक वृत्ति, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ानेवाले रसीले, स्निग्ध, शरीर में भिदकर चिरकाल तक रहनेवाले और मन को आनन्ददायक आहार सात्विक मनुष्य को प्रिय होते हैं। —१७-८

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥

शूरता, तेजस्विता, धैर्य, दक्षता, युद्ध से न भागना, दान देना और प्रजा पर शासन करना ये क्षत्रियों के स्वाभाविक कर्म हैं।

—१८-४३

—भगवद्गीता

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः।

विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः
प्रारब्धमुत्तमजना न परित्यजन्ति ॥

नीच श्रेणी के लोग डर के मारे किसी कार्य को आरम्भ ही नहीं करते; मध्यम श्रेणी के लोग आरम्भ करके बाधाओं के पड़ने पर रुक जाते हैं, अर्थात् हताश होकर कार्य बन्द कर देते हैं; परन्तु विघ्नों से बार-बार आहत होने पर भी एक बार आरम्भ कर देने पर उत्तम श्रेणी के लोग कार्य नहीं छोड़ते।

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥

धैर्यवान पुरुष सही मार्ग से पैर नहीं हटाते, चाहे नीतिज्ञ (उनकी) निन्दा करें या प्रशंसा; चाहे लक्ष्मी (धन) पर्याप्त रूप में आये या चली जाय; (और) चाहे (उनकी) मृत्यु आज ही हो, अथवा लंबे काल में।

— भर्तृहरि

परम धर्म

गिरिजा संत-समागम सम न लाभ कछु आन।
बिनु हरिकृपा न होइ सो, गावहिं वेद पुरान ॥

धरमु न दूसर सत्य समाना।
आगम निगम पुरान बखाना ॥
परम धर्म स्त्रुति-बिदित अहिंसा।
पर-निन्दा सम अघ न गरीसा ॥

आगम=शास्त्र । अघ=पाप । गरीसा=बड़ा भारी ।

परहित सरिस धर्म नहिं भाई ।
पर-पीड़ा सम नहिं अधमाई ।।
परहित बस जिन्हके मन माहीं ।
तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं ।।

सरिस=समान । अधमाई=नीचता, पाप ।

साधु-चरित सुभ चरित कपासू ।
निरस बिसद गुनमय फल जासू ।।
जो सहि दुख परछिद्र दुरावा ।
बंदनीय जेहिं जग जस पावा ।।

संतों का चरित्र कपास के जीवन के जैसा शुभ है, जिसका फल नीरस, विशद और गुणमय होता है। (कपास की डाड़ी नीरस होती है, संत-चरित में भी विषयासक्ति नहीं है, अतः वह भी नीरस है; कपास उज्ज्वल होता है, संत का हृदय भी अज्ञान तथा पापरूपी अंधकार से रहित होता है, अतः वह विशद है; और कपास में गुण (तन्तु) होते हैं, इसी प्रकार संत का चरित्र भी सद्‌गुणों का भण्डार होता है, इसीलिए वह गुणमय है।)

(जैसे, कपास का धागा सुई के किये हुए छिदे को अपना तन देकर ढक देता है, या कपास जैसे लोढ़े जाने, काते जाने और बुने जाने का कष्ट सहन करके भी वस्त्र के रूप में परिणत होकर दूसरों के गोपनीय स्थानों को ढकता है, उसी तरह) संत स्वयं दुःख सहकर दूसरों के छिद्रों अर्थात् दोषों को ढकते हैं, जिसके कारण उन्होंने जगत् में प्रशंसनीय यश पाया है।

अघ कि पिसुनता सम कछु आना।
धर्म कि दया सरिस हरिजाना॥
निर्मल मन जन सो मोहि पावा।
मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥

पिसुनता=नीचता, क्रूरता। हरिजाना=हरियान; विष्णु भगवान् का वाहन गरुड़।

उमा जे रामचरन-रत, बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत, केहि सन करहिं विरोध॥
—रामचरितमानस

उमा=हे पार्वती। बिगत=रहित।

प्रभु मेरे, अवगुन चित न धरो।
समदरसी प्रभु नाम तिहारो, अपने पनहिं करो॥
इक लोहा पूजा में राखत, इक घर बधिक परो।
यह दुविधा पारस नहिं जानत, कंचन करत खरो॥
एक नदिया एक नार कहावत, मैलो नीर भरो।
जब मिलिकैं दोउ एक बरन भये, सुरसरि नाम परो॥
एक जीव इक ब्रह्म कहावत, 'सूरस्याम' झगरो।
अबकी बेर मोहि पार उतारो, नहिं पन जात टरो॥

पनहिं करो=प्रतिज्ञा पूर्ण करो। दुविधा=भेद। खरो=खरा, असली। नार=नाला।

बार-बार बर माँगउँ, हरषि देहु श्रीरंग।
पद-सरोज अनपायिनी, भगति सदा सतसंग॥

परमानन्द कृपायतन, मन परिपूरन काम।
प्रेम-भगति अनपायिनी, देहु हमहिं श्रीराम॥
मो सम दीन, न दीनहित तुम्ह समान रघुवीर।
अस बिचारि रघुबंस-मनि, हरहु विषम भवभीर॥

श्रीरंग=लक्ष्मीपति। अनपायिनी=स्थायी। काम=इच्छा। भवभीर=जन्म-मृत्यु का भय।

इन्द्रियों एवं मन का निग्रह

मंगलवार

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ।।

जो मुझ (परमेश्वर परमात्मा) को सब स्थानों में और सबको मुझमें देखता है, उससे मैं कभी नहीं बिछुड़ता; और न वही मुझसे कभी दूर होता है। —६-३०

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ।।
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ।।

जो मूढ़ हाथ-पैर आदि कर्मेन्द्रियों को रोककर मन से इन्द्रियों के विषयों का चिंतन किया करता है, उसे मिथ्याचारी अर्थात् दांभिक कहते हैं। —३-६

परन्तु हे अर्जुन ! उसकी योग्यता विशेष है अर्थात् श्रेष्ठ है, जो मन से इन्द्रियों का आकलन करके केवल कर्मेन्द्रियों द्वारा अनासक्त बुद्धि से कर्मयोग करता है।

—३-७

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।

इसलिए इन्द्रियों का संयमन कर योगयुक्त तथा मुझमें परायण होकर रहना चाहिए। इस प्रकार जिसकी इन्द्रियाँ

अपने वश में हो जायें, कहना चाहिए कि उसकी बुद्धि स्थिर हो गई है।

—२-६१

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥

हे महाबाहु अर्जुन! इसमें संदेह नहीं कि मन चंचल है, और उसे वश में करना कठिन है। परन्तु हे कौन्तेय! अभ्यास और वैराग्य से उसे अपने वश में किया जा सकता है।

—६-३५

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥

चंचल और अस्थिर मन जहाँ-जहाँ से बाहर जाये, वहाँ वहाँ से रोककर उसको अपनी आत्मा के अधीन करना चाहिए।

—६-२६

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥

जो किसीका भी द्वेष नहीं करता, और किसीकी भी चाह नहीं करता, उस मनुष्य को कर्म करने पर भी, सदा संन्यासी ही समझना चाहिए।

क्योंकि हे महाबाहु अर्जुन! जो सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से मुक्त हो जाये, अनायास ही कर्मों के बंधन से मुक्त हो जाता है।

—५-३

—भगवद्गीता

सदाचार

सबु करि मागहिं एक फलु, राम-चरन-रति-होउ।
तिन्हकै मन-मंदिर बसहु, सिय रघुनन्दन दोउ॥

काम कोह मद मान न मोहा।
लोभ न छोभ न राग न द्रोहा॥
जिन्हकें कपट दंभ नहिं माया।
तिन्हके हृदय बसहु रघुराया॥
सबके प्रिय सबके हितकारी।
दुख सुख सरिस प्रसंसा गारी॥
कहहिं सत्य प्रिय बचन बिचारी।
जागत सोवत सरन तुम्हारी॥
तुम्हहिं छांड़ि गति दूसरि नाहीं।
राम बसहु तिन्हके मन माहीं॥
जननी सम जानहिं परनारी।
धन पराव बिष ते बिष भारी॥
जे हरषहिं परसंपति देखी।
दुखित होंहि पर बिपति बिसेषी॥
जिन्हहिं राम तुम्ह प्रानपिआरे।
तिन्हकें मन सुभ सदन तुम्हारे॥

स्वामि सखा पितु मातु गुरु जिन्हकें सब तुम्ह तात।
मन-मंदिर तिन्हके बसहु सीय सहित दोउ भ्रात॥

—रामचरितमानस

कोह=क्रोध। छोभ=क्षोभ। सरिस=समान। गारी=गाली, निन्दा। गति=सहारा। पराव=पराया। सदन=घर, स्थान।

तू दयालु, दीन हौं, तू दानि, हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पापपुंजहारी॥
नाथ तू अनाथ को, अनाथ कौन मोसो।
मो समान आरत नहिं, आरतिहर तोसो॥
ब्रह्म तू, हौं जीव, तू है ठाकुर, हौं चेरो।
तात, मात, गुरु, सखा तू सब बिधि हितु मेरो॥
तोहि मोहि नाते अनेक, मानिये जो भावै।
ज्यों-त्यों 'तुलसी' कृपालु, चरन-सरन पावै॥

पापपुंजहारी=पाप-समूह का नाश करनेवाला। आरत=आर्त्त, दुखी। आरति=पीड़ा। ठाकुर=स्वामी। चेरो=सेवक। हितु=हितकारी। भावै=अच्छा लगे।

तिल-तिल कर अपराधी तेरा, रती-रती का चोर।
पल-पल का मैं गुनही तेरा, बकसहु औगुण मोर॥
'दादू' देखि दयाल कौ, रोकि रह्या सब ठौर।
घटि-घटि मेरा साइयां, तू जिनि जाणै और॥
जहाँ राम तहँ मैं नहीं, मैं तहँ नाहीं राम।
'दादू' महल बारीक है, द्वै को नाहीं ठाम॥

गुनही=गुनाह करनेवाला। बकसहु=बख्श दो, क्षमा कर दो। रोकि रह्या=समाया हुआ है, व्यापक। घटि-घटि=हरेक शरीर में बारीक=सूक्ष्म से भी सूक्ष्म। ठाम=जगह।

भगवान् को प्रिय

बुधवार

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ।।
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ।।

जो किसीसे द्वेष-भाव नहीं रखता, जो सब प्राणियों के साथ मित्रता का वर्ताव करता है, जो कृपालु है, जिसमें न मेरापन है और न अहंकार, जो दुःख और सुख में समान और क्षमाशील है,

जो सदा संतोषी है, संयमी और दृढ़निश्चयवाला है, जिसने अपने मन को और बुद्धि को मुझमें अर्पण कर दिया है, वह मेरा योगी भक्त मुझको प्रिय है। —१२, १३-१४

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ।।

जिससे न तो लोगों को क्लेश पहुँचता है, और जो न लोगों से क्लेश पाता है, इसी प्रकार जो हर्ष, क्रोध, भय और विषाद में लिप्त नहीं होता, वही मुझे प्रिय है। —६-१५

अनपेक्षः शुचिर्दक्षः उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ।।

मेरा वही भक्त मुझे प्यारा है कि जो निरपेक्ष, पवित्र और दक्ष है—अर्थात् किसी भी काम को आलस्य छोड़कर

करता है—जो (फल के विषय में) उदासीन है, जिसे कोई भी विकार डिगा नहीं सकता और जिसने (काम्य फल के) सब आरम्भ यानी उद्योग छोड़ दिये हैं। —१२-१६

योन हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥

जो न आनन्द मनाता है, न द्वेष करता है, जो न शोक करता है; और न इच्छा रखता है, जिसने (कर्म के) शुभ और अशुभ (फल) छोड़ दिये हैं, वह भक्तिमान् पुरुष मुझे प्रिय है। —१२-१७

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥

जिसे शत्रु और मित्र, मान और अपमान, सर्दी और गर्मी, सुख और दुःख समान हैं, और जिसे किसी में भी आसक्ति नहीं है,

जिसे निन्दा और स्तुति दोनों एक-सी हैं, जो मितभाषी है, जो कुछ मिल जाये उसी में संतुष्ट है, जो अनिकेत है, अर्थात् जिसका कर्म-फलाशारूपी ठिकाना कहीं भी नहीं रह गया है, वह भक्तिमान् मनुष्य मुझे प्रिय है। —१२, १८-१९

—भगवद्गीता

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

न तो मैं राज्य चाहता हूँ, और न स्वर्ग, और न मोक्ष; मैं तो दुःख से पीड़ित प्राणियों का दुःख दूर करना चाहता हूँ।

संत-लक्षण

सगुन-उपासक परहित निरत नीति दृढ़ नेम ।
ते नर प्रान समान मम जिन्हकें द्विज-पद-प्रेम ।।

अमितबोध अनीह मितभोगी ।
सत्यसार कबि कोबिद जोगी ।।
सावधान मानद मदहीना ।
धीर धर्म गति परम प्रबीना ।।
निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं ।
पर गुन सुनत अधिक हरषाहीं ।।
सम सीतल नहिं त्यागहिं नीती ।
सरल सुभाउ सबहिं सन प्रीती ।।

निरत=लगे हुये । नेम=नियम । अमितबोध=असीम ज्ञानवान् । अनीह=इच्छारहित । सत्यसार=सत्यनिष्ठ । कोविद=विद्वान् । जोगी=योगी । मानद=दूसरों को सम्मान देनेवाले । मदहीना=अहंकार रहित । सम=दुःख व सुख में समान ।

जप तप ब्रत दम संजम नेमा ।
गुरु गोबिंद बिप्र-पद-प्रेमा ।।
श्रद्धा छमा मयत्री दाया ।
मुदिता मम पद प्रीति अमाया ।।
बिरति बिबेक बिनय बिज्ञाना ।
बोध जथारथ बेद पुराना ।।
दंभ मान मद करहिं न काऊ ।
भूलि न देहिं कुमारग पाऊ ।।

निंदा अस्तुति उभय सम ममता मम पद-कंज ।
ते सज्जन मम प्रानप्रिय गुनमंदिर सुख-पुंज ॥

संजम=संयम । मयत्री=मैत्री, मित्रता । मुदिता=प्रसन्नता । अमाया=निष्कपट । विरति=वैराग्य । विज्ञाना=परमात्म-तत्व का ज्ञान । जथारथ=यथार्थ, सही । काऊ=कभी भी । पाऊ=पैर ।

—रामचरितमानस

सुने हैं मैंने निरबल के बल राम ।
पिछली साख भरूँ संतन की, आड़े सँवारे काम ॥
जबलगि गज बल अपनो बरत्यो, नेक सर्‌यो नहिं काम ।
निरबल ह्वै बल राम पुकार्‌यो, आये आधे नाम ॥
द्रुपदसुता निरबल भई ता दिन, तजि आये निज धाम ।
दुस्सासन की भुजा थकित भई, बसनरूप भये स्याम ॥
अप-बल, तप-बल और बाहुबल, चौथो है बल दाम ।
'सूर' किसोर कृपा तें सब बल, हारे को हरिनाम ॥

साख=साक्षी, गवाही । आड़े=संकट में । नेक सर्‌यो नहिं काम=जरा भी काम नहीं बना । बसनरूप=वस्त्र (साड़ी) बन गये । अप=अपना ।

जिह्वा गुन गोविंद भजहु, करन सुनहु हरिनाम ।
कहु 'नानक' सुन रे मना, परहि न जम कै धाम ॥
तनु धनु जिह तोकों दियो, तासों नेह न कीन ।
कहु 'नानक' नर बावरे, अब क्यों डोलत दीन ॥

नेहु=स्नेह, प्रेम । कीन=किया । बावरे=पागल ।

देव और असुर

गुरुवार

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥

अभय, शुद्ध सात्विक वृत्ति, ज्ञानमार्ग और कर्मयोग की तारतम्यपूर्वक व्यवस्था, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय अर्थात् स्वधर्म के अनुसार आचरण, तप, सरलता,

अहिंसा, सत्य, अक्रोध, कर्मफल का त्याग, शान्ति, क्षुद्र दृष्टि छोड़कर उदारभाव रखना, सब प्राणियों के प्रति दया, तृष्णा न रखना, मधुर व्यवहार, बुरे काम की लज्जा, अचपलता,

तेजस्विता, क्षमा, धैर्य, शुद्धता, द्रोह न करना, अतिमान न रखना—हे भारत! ये सब गुण दैवी सम्पत्ति में जन्मे हुए मनुष्यों को मिलते हैं। —१६,१-२-३

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥

हे पार्थ! दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, निष्ठुरता और अज्ञान, ये आसुरी सम्पत्ति में जन्मे हुए व्यक्ति को प्राप्त होते हैं। —१६-४

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥

काम, क्रोध और लोभ ये तीन प्रकार के नरक के द्वार हैं। ये हमारा नाश कर डालते हैं, इसलिए इन तीनों का परित्याग करना चाहिए। —१६-२१

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥

क्रोध से अविवेक पैदा होता है। अविवेक से स्मरणशक्ति चली जाती है, और उससे बुद्धि नष्ट हो जाती है। बुद्धिनाश से सब कुछ नष्ट हो जाता है। —२-६३

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥

शरीर छूटने से पहले अर्थात् मृत्यु-पर्यंत काम-क्रोध से पैदा होनेवाले वेग को इस लोक में ही सहन करने में जो समर्थ होता है, वही युक्त है और वही सुखी है। —५-२३

—भगवद्गीता

अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम् ।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ॥

भगवान् व्यास के अठारह पुराणों में के साररूप ये दो वचन हैं— परोपकार ही पुण्य है, और दूसरों को पीड़ा देना ही पाप है।

सद्नीति

ग्रह भेषज जल पवन पट पाइ कुजोग सुजोग ।
होहिं कुबस्तु सुबस्तु जग लखहिं सुलच्छन लोग ॥

ग्रह, औषधि, जल, वायु और वस्त्र ये सभी कुसंग पाकर संसार में बुरे पदार्थ हो जाते हैं, और सुसंग पाकर अच्छे पदार्थ, चतुर विचारवान् व्यक्ति ही इस बात को जानते हैं।

सरल सुभाव न मन कुटिलाई।
जथालाभ सन्तोष सदाई॥
बैर न बिग्रह आस न त्रासा।
सुखमय ताहि सदा सब आसा॥
सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं।
परुष बचन कबहूँ नहिं बोलहिं॥

कुटिलाई=कुटिलता। बिग्रह=लड़ाई-झगड़ा। त्रासा=डर। परुष=कठोर।

कुपथ निवारि सुपंथ चलावा।
गुन प्रगटै अवगुनन्हि दुरावा॥
देत लेत मन संक न धरई।
बल अनुमान सदा हित करई॥
बिपति काल कर सतगुन नेहा।
श्रुति कह संत मित्र गुन एहा॥
आगें कह मृदु बचन बनाई।
पाछें अनहित मन कुटिलाई॥
जाकर चित अहि-गति सम भाई।
अस कुमित्र परिहरेहिं भलाई॥

कुपथ निवारि=बुरे रास्ते से रोककर। दुरावा=छिपाले

संक=शंका । अनुमान=अनुसार । सतगुन=सौगुना । संत=श्रेष्ठ, उत्तम । बनाई=बना-बनाकर । अहि=साँप । परिहरेंहिं=त्याग देने से ही ।

परद्रोही पर-दार रत, पर-धन पर-अपवाद ।
ते नर पावँर पापमय, देह धरें मनुजाद ।।

परदार=पराई स्त्री । अपवाद=निन्दा । पावँर=पामर, अधम । मनुजाद=नरभक्षी, राक्षस ।

—रामचरितमानस

स्याम ! मने चाकर राखो जी ।
गिरधारीलाल ! चाकर राखो जी ।।

चाकर रहसूँ बाग लगासूँ, नित उठ दरसण पासूँ ।
बिंद्राबन की कुंजगलिन में तेरी लीला गासूँ ।।
चाकरी में दरसण पाऊँ, सुमिरण पाऊँ खरची ।
भाव-भगति जागीरी पाऊँ, तीनूँ बाताँ सरसी ।।
मोर मुकुट पीतांबर सोहै, गले बैजंती माला ।
बिंद्राबन में धेनु चरावे, मोहन मुरलीवाला ।।
हरे हरे नित बाग लगाऊँ, बिच बिच राखूँ क्यारी ।
साँवरिया के दरसण पाऊँ, पहिर कुसुम्भी सारी ।।
जोगी आया जोग करण कूँ, तप करणे संन्यासी ।
हरी-भजन कूँ साधू आया, बिन्द्राबन के बासी ।।
'मीरा' के प्रभु गहरि गँभीरा, सदा रहो जी धीरा ।
आधी रात प्रभु दरसण दीन्हें, प्रेम नदी के तीरा ।।

रहसूँ=रहूँगी। लगासूँ=लगाऊँगी। पासूँ=पाऊँगी। गासूँ=गाऊँगी। सरसी=अच्छी। तीरा=तटपर।

राम भरोसो रामबल, राम नाम बिस्वास।
सुमिरत सुभ मंगल कुसल, माँगत तुलसीदास॥
कामहिं नारि पियारि जिमि, लोभहिं प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर, प्रिय लागहु मोहिं राम॥

सात्त्विक कर्म तथा कर्त्ता

शुक्रवार

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ।।

फल मिलने की इच्छा न रखनेवाला मनुष्य मन में न तो प्रेम और न द्वेष रखकर, बिना आसक्ति के, जो नियमित कर्म करता है, उस कर्म को 'सात्विक' कर्म कहते हैं।

—१८-२३

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ।।

परन्तु फलाशा की इच्छा रखनेवाला अथवा अहंकार-बुद्धि का मनुष्य बड़े परिश्रम से जो कर्म करता है, उसे 'राजस' कर्म कहते हैं।

—१८-२४

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ।।

'तामस' कर्म वह है, जो मोह से, बिना ही इन बातों पर विचार किये आरम्भ किया जाता है कि आगे क्या होगा और अपना सामर्थ्य कितना है और नाश अथवा हिंसा होगी या नहीं ?

—१८-२५

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्धयसिद्धयोर्निर्विकारः कर्त्ता सात्विक उच्यते ।।

जिसे आसक्ति नहीं रहती, जो 'मैं', 'मेरा' नहीं कहता,

कार्य सफल हो या न हो, दोनों परिणामों के समय जो मन से निर्विकार होकर धैर्य और उत्साह के साथ कर्म करता है, उसे 'सात्त्विक कर्त्ता' कहते हैं। —१८-२६

राागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्त्ता राजसः परिकीर्तितः॥

विषयों में आसक्त, लोभी, सफलता के समय हर्ष और असफलता के समय शोक से युक्त, कर्मफल पाने की इच्छा रखनेवाला, हिंसात्मक और अशुचि कर्त्ता 'राजस' कहलाता है। —१८-२७

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्त्ता तामस उच्यते॥

अयुक्त अर्थात् चंचल बुद्धिवाला, असभ्य, गर्व से फूलनेवाला, ठग, दूसरों की हानि करनेवाला, आलसी, अप्रसन्नचित्त और दीर्घसूत्री अर्थात् घड़ीभर के काम को महीनेभर में करनेवाला कर्त्ता 'तामस' कहलाता है। —१८-२८

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥

हे पार्थ! जो बुद्धि प्रवृत्ति अर्थात् किसी कर्म को करने और निवृत्ति अर्थात् न करने को जानती है, और यह भी जानती है कि क्या तो करने योग्य है और क्या न करने योग्य, किससे डरना चाहिए और किससे नहीं, तथा किससे बंधन होता है और किससे मोक्ष, वह बुद्धि 'सात्त्विक' है। —१८-३०

—भगवद्गीता

विजय-रथ

(रणभूमि पर श्रीराम को विना रथ के विभीषण ने देखा, तो श्रीराम कहते हैं—)

सुनहु सखा कह कृपानिधाना ।
जेहिं जय होइ सो स्यंदन आना ।।
सौरज धीरज तेहि रथ चाका ।
सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका ।।
बल बिबेक दम परहित घोरे ।
छमा कृपा समता रजु जोरे ।।
ईस भजन सारथी सुजाना ।
बिरति चर्म संतोष कृपाना ।।
दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा ।
बर बिज्ञान कठिन कोदंडा ।।
अमल अचल मन त्रोन समाना ।
सम जम नियम सिलीमुख नाना ।।
कवच अभेद बिप्र-गुरु पूजा ।
एहि सम विजय उपाय न दूजा ।।
सखा धर्ममय अस रथ जाकें ।
जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताकें ।।
महा अजय संसार रिपु, जीति सकइ सो वीर ।
जाकें अस रथ होइ दृढ़, सुनहु सखा मतिधीर ।।

हे सखे ! सुनो, जिससे विजय होती है, वह रथ तो दूसरा ही है। शौर्य तथा धैर्य उस रथ के पहिये हैं। सत्य और सदाचार उसकी दृढ़ ध्वजा और पताका हैं । बल, विवेक, दमन (इन्द्रियों का) और परोपकार ये चार उसके घोड़े हैं, जो क्षमा, दया और समतारूपी डोरी

से रथ में जोड़े हुए हैं।

ईश्वर का भजन ही उसे चलानेवाला कुशल सारथी है। वैराग्य ढाल है, और संतोष तलवार। दान फरसा है, बुद्धि प्रचण्ड शक्ति है, और उत्तम विज्ञान है प्रचंड धनुप।

निर्मल और स्थिर मन तरकस के समान है। शम (मन का वश में होना), (अहिंसादि) यम और (शौचादि) नियम ये अनेक वाण हैं। ब्राह्मणों और गुरु का पूजन अभेद्य कवच है। इसके समान विजय का दूसरा कोई उपाय नहीं।

हे सखे! ऐसा कर्ममय रथ जिसके पास हो उसके लिए जीतने को कहीं कोई शत्रु ही नहीं है।

हे धीर बुद्धिवाले सखा! सुनो, जिसके पास ऐसा दृढ़ रथ हो, वह वीर संसार (जन्म-मृत्यु) रूपी महान् शत्रु को भी जीत सकता है।

—रामचरितमानस

काहे रे बन खोजन जाई।
सरब-निवासी सदा अलेपा, तोही संग समाई॥
पुहुप मध्य ज्यों बास बसत है, मुकुर माहिं जस छाई।
तैसे ही हरि बसै निरंतर, घट ही खोजौ भाई॥
बाहर भीतर एकै जानों, यह गुरु ज्ञान बताई।
जन 'नानक' बिन आपा चीन्हे, मिटै न भ्रम की काई॥

अलेपा=अलिप्त। बास=गंध। मुकुर=दर्पण, शीशा। छाई= प्रतिबिंब। काई=जमा हुआ मैल।

बिनु बिस्वास भगति नहिं, तेहि बिनु द्रवहिं न राम।
रामकृपा बिनु सपने, जीव न लह बिश्राम॥
राम बामदिस जानकी, लखन दाहिनी ओर।
ध्यान सकल कल्यानमय, सुरतरु तुलसी तोर॥

द्रवहिं=पसीजना, दया करना। बिश्राम=शान्ति। सुरतरु= कल्पवृक्ष।

सच्चा तप और सुख

शनिवार

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥

देवता, ब्राह्मण, गुरु और विद्वानों की पूजा, शुद्धता, सरलता, ब्रह्मचर्य तथा अहिंसा को 'शारीरिक' तप कहते हैं।

—१७-१४

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥

मन को उद्वेग न करनेवाले, सत्य, प्रिय और हितकारक संभाषण को तथा स्वाध्याय अर्थात् अपने कर्म के अभ्यास को 'वाचिक' तप कहते हैं।

—२७-१५

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥

मन को प्रसन्न रखना, सौम्यता, मौन अर्थात् मुनियों के समान वृत्ति रखना, मन का निग्रह और शुद्ध भावना—इनको 'मानस' तप कहते हैं।

—१७-१६

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥

जो आरम्भ में तो विष के समान जान पड़ता है, परन्तु परिणाम में अमृत के तुल्य है, जो आत्मनिष्ठ बुद्धि की प्रसन्नता

से प्राप्त होता है। उस सुख को 'सात्त्विक' कहते हैं।

—१८-३७

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥

इन्द्रियों और उनके विषयों के संयोग से होनेवाला सुख 'राजस' कहा जाता है कि जो पहले तो अमृत के समान है, पर अन्त में विष-सा रहता है। —१८-३७

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥

जो आरम्भ में तथा परिणाम में भी मनुष्य को मोह में फँसाता है, और जो निद्रा, आलस्य तथा प्रमाद से पैदा होता है, उसे 'तामस' सुख कहते हैं। —१८-३९

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥

हम दोनों के इस धर्म-संवाद का जो अध्ययन करेगा, मैं समझूँगा कि उसने ज्ञान-यज्ञ से मेरी पूजा की। —१८-७०

—भगवद्गीता

श्रीराम-नाम

जड़ चेतन जग जीव जत, सकल राममय जानि ।
बंदउँ सब के पद कमल, सदा जोरि जुग पानि ॥

जत=जितने भी। जोरि जुग पानि=दोनों हाथ जड़कर।

ब्रह्म अनामय अज भगवंता ।
व्यापक अजित अनादि अनंता ।।
हरि व्यापक सर्वत्र समाना ।
प्रेम तें प्रगट होंहि मैं जाना ।।

अनामय=रोगरहित, स्वस्थ । अज=जन्मरहित । अजित=जिसे कोई जीत न सके ।

जद्यपि प्रभु के नाम अनेका ।
स्रुति कहँ अधिक एक तें एका ।।
राम सकल नामन्ह ते अधिका ।
होउ नाथ अघ खग गन बधिका ।।
जिन्ह कर नाम लेत जग माहीं ।
सकल अमंगल मूल नसाहीं ।।

स्रुति=श्रुति, वेद । अघ-खगगन=पापरूपी पक्षीगण । बधिका=बधिक, चिड़ीमार ।

करतल होहिं पदारथ चारी ।
तेइ सिय राम कहेउ कामारी ।।
जासु नाम जपि सुनहु भवानी ।
भव-बंधन काटहिं नर ग्यानी ।।
जपहिं नाम जन आरत भारी ।
मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी ।।

करतल=अत्यन्त सुलभ । पदारथ चारी=धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ।

राम नाम मनि-दीप धरु, जीह देहरीं द्वार।
'तुलसी' भीतर बाहरहुँ, जो चाहसि उजियार॥

जीह देहरीं द्वार=देहली पर रखा हुआ दीपक। उजियार=उजेला, ज्ञानरूपी प्रकाश।

—रामचरितमानस

सन्तो, सहज समाधि भली।
साईं तें मिलन भयो जा दिन तें, सुरत न अनत चली॥
आँख न मूँदूँ कान न रूँधूँ, काया कष्ट न धारूँ।
खुले नैन मैं हँस-हँस देखूँ, सुन्दर रूप निहारूँ॥
कहूँ सो नाम, सुनूँ सो सुमिरन, जो कछु करूँ सो पूजा।
गिरह-उद्यान एक सम देखूँ, भाव मिटाऊँ दूजा॥
जहँ-जहँ जाऊँ सोई परिकरमा, जो कछु करूँ सो सेवा।
जब सोऊँ तब करूँ दण्डवत, पूजूँ और न देवा॥
सब्द निरन्तर मनुआ राता, मलिन बचन को त्यागी।
ऊठत-बैठत कबहुँ न बिसरै, ऐसी तारी लागी॥
कहै 'कबीर' यह उन्मुनि रहनी, सो परगट कर गाई।
सुख-दुख के इक परे परमसुख तेहि में रहा समाई॥

सुरत=ध्यान। अनत=अन्यत्र, दूसरी जगह। रुँधूँ=बन्द करूँ। गिरह=गृह, घर। उद्यान=जंगल से आशय है। मनुआ=मन। राता=अनुरक्त, लगा हुआ। तारी=समाधि। उन्मुनि=हठयोग की पाँच मुद्राओं में से एक।

अरथ न धरम न काम-रुचि, गति न चहउँ निरबान।
जनम-जनम रति राम पद, यह बरदानु न आन॥

निरबान=निर्वाण, मोक्ष। आन=अन्य, दूसरा।

स्थितप्रज्ञ के लक्षण

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत् किम् ।।

हे केशव ! यह बतलाओ कि समाधिस्थ स्थितप्रज्ञ किसे कहा जाय । उस स्थितप्रज्ञ का बोलना, बैठना और चलना कैसा रहता है ? —२-५४

श्रीभगवान् उवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ।।

हे पार्थ ! जब कोई मनुष्य अपने मन की सारी कामनाएँ अर्थात् वासनाएँ छोड़ देता है, और अपने आपमें ही संतुष्ट होकर रहता है, तब उसको स्थितप्रज्ञ कहते हैं । —२-५५

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ।।

जिसका मन दुःख में खिन्न नहीं होता, सुख में जिसकी आसक्ति नहीं, और प्रीति, भय तथा क्रोध जिसके छूट गये हैं, उसको स्थितप्रज्ञ मुनि कहते हैं । —२-५६

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।

जिसका मन सारी ही बातों में निस्संग अर्थात् अनासक्त

हो गया, और यथाप्राप्त शुभ और अशुभ का जिसे आनन्द या विषाद भी नहीं, मानना चाहिए कि उसकी बुद्धि स्थिर हो गई। —२-५७

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

जैसे कछुआ अपने अंगों को सब ओर से सिकोड़ लेता है, उसी तरह जब कोई मनुष्य इन्द्रियों के शब्द, स्पर्श आदि विषयों से अपनी इन्द्रियों को खींच लेता है, तब कहना चाहिए कि उसकी बुद्धि स्थिर हो गई है। —२-५८

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

निराहारी मनुष्य के विषय छूट जाने पर भी उनका रस अर्थात् चाह नहीं छूटती, परन्तु परब्रह्म का अनुभव होने पर चाह भी छूट जाती है। मतलब यह कि इन्द्रियों के विषय और उनकी चाह दोनों छूट जाते हैं। —२-५९

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥

कारण यह है कि केवल इन्द्रियों का दमन करने के लिए प्रयत्नशील विद्वान् के भी मन को, हे कुन्ती पुत्र! ये बलवान् इन्द्रियां जबरदस्ती चाहे जिस तरफ खींच लेती हैं। —२-६०

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

इसलिए इन इंद्रियों का संयमन कर योगयुक्त और मुझमें परायण होकर रहना चाहिए। इस प्रकार जिसकी इन्द्रियां

अपने वस में हो जायें, कहना चाहिए कि उसकी बुद्धि स्थिर हो गई। —२-६१

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥

विषयों का चिंतन करनेवाले मनुष्य की उन विषयों मैं आसक्ति वढ़ती जाती है। आसक्ति से वासना पैदा होती है कि हमको वह विषय चाहिए। और अमुक विषय की तृप्ति होने में जब कोई विघ्न आ जाता है, तब उससे ही क्रोध की उत्पत्ति होती है। —२-६२

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

क्रोध से अविवेक होता है। अविवेक से स्मरण-शक्ति चली जाती है, और उससे बुद्धि नष्ट हो जाती है। बुद्धि-नाश से सब कुछ नष्ट हो जाता है। २-६३

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मश्वयैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥

किन्तु अपना अन्तःकरण जिसके वश में है, वह राग और द्वेष से छूटी हुई अपनी स्वाधीन इन्द्रियों से विषयों में बर्ताव करके भी चित्त से प्रसन्न रहता है। —२-६४

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥

चित्त प्रसन्न रहने से उसके सभी दुःखों का नाश होता है। जिसका चित्त प्रसन्न है, उसकी बुद्धि भी तुरन्त स्थिर हो जाती है। —२-६५

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥

जो मनुष्य इस रीति से योगयुक्त नहीं है, उसमें स्थिर बुद्धि और भावना अर्थात् निष्ठा भी नहीं रहती है। भावना के न होने से शान्ति नहीं; जिसे शान्ति नहीं उसे सुख कहाँ से मिलेगा ? —२-६६

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥

विषयों में व्यवहार करनेवाली इंद्रियों के पीछे-पीछे मन जो जाने लगता है, वही मनुष्य की बुद्धि को ऐसे हरण किया करता है, जैसे पानी में नाव को वायु खींचती है। —२-६७

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

इसलिए हे महाबाहु अर्जुन ! इन्द्रियों के विषयों से जिसकी इन्द्रियाँ सब ओर से हट गई हों, कहना चाहिए कि उसकी बुद्धि स्थिर हुई। —२-६८

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥

सब लोगों के लिए जो रात है, उसमें स्थितप्रज्ञ जागता है; और जब सारे प्राणिमात्र जागते रहते हैं, तब इस ज्ञानवान् पुरुष को रात मालूम होती है।

रात से तात्पर्य है अन्धकार से, और दिन से तात्पर्य है प्रकाश से। अज्ञान ही अन्धकार है और ज्ञान ही प्रकाश है। —२-६९

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥

चारों ओर से पानी भरते जाने पर भी जिसकी मर्यादा नहीं डिगती, ऐसे समुद्र में जैसे सारा पानी चला जाता है, वैसे ही जिस मनुष्य में सारे विषय, उसकी शान्ति भंग हुए बिना ही, प्रवेश करते हैं, उसेही सच्ची शान्ति मिलती है। विषयों की कामना करनेवाले को यह शान्ति नहीं मिलती।

—२-७०

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमाँश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥

जो मनुष्य आसक्ति को छोड़कर और निःस्पृह होकर व्यवहार करता है, और जिसे न ममत्व होता है और न अहंकार, उसेही शान्ति मिलती है। —२-७१

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥

हे पार्थ ! यही ब्राह्मी स्थिति है। इसे प्राप्त कर लेने पर मनुष्य मोह में नहीं फँसता, और मरणकाल में भी इस स्थिति में रहकर वह ब्रह्मनिर्वाण पाता है, अर्थात् ब्रह्म में लीन हो जाता है।

—२-७२

—भगवद्‌गीता

उपासना-सूत्र

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ।।

मुझमें ही तू मन लगा। मुझमें बुद्धि को स्थिर कर। इससे तू निस्संदेह मुझमें ही वास करेगा। —१२-८

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ।।

अब इस प्रकार मुझमें भली भाँति चित्त को यदि स्थिर करते न बन पड़े, तो हे धनंजय ! अभ्यास की सहायता से अर्थात् बार-बार प्रयत्न करके तू मुझे प्राप्त कर लेने की आशा रख। —१२-९

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ।।

यदि तू अभ्यास भी न कर सके तो मेरी प्राप्ति के लिए ज्ञान-ध्यान-भजन-पूजा-पाठ आदि कर्म करता जा।
मेरे लिए ये कर्म करने से भी तुझे सिद्धि मिलेगी।

—१२-१०

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ।।

किन्तु यदि इसके करने में भी तू असमर्थ हो तो मुझे अर्पणपूर्वक योग का आश्रय लेकर, धीरे-धीरे चित्त को रोकता हुआ सब कर्मों का फल त्याग करदे। —१२-११

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥

क्योंकि अभ्यास की अपेक्षा ज्ञान अधिक अच्छा है, ज्ञान की अपेक्षा ध्यान की योग्यता कहीं अधिक है।

ध्यान की अपेक्षा कर्मफल का त्याग श्रेष्ठ है, इस त्याग से तुरन्त शान्ति प्राप्त होती है। —१२-१२

—भगवद्गीता